‘धूमिल’ और गोरख पाण्डेय के काव्य में नक्सलबाड़ी आंदोलन की गूँज: एक अनुशीलन

दुर्गेश पाण्डेय [1], डॉ० ज्ञानेन्द्र मणि त्रिपाठी [2]

[1] शोधार्थी, हिन्दी विभाग, किसान पी. जी. कॉलेज, बहराइच, उत्तर प्रदेश (स्वायत्तशासी)

[2] शोध-निर्देशक, हिन्दी विभाग, किसान पी. जी. कॉलेज, बहराइच, उत्तर प्रदेश (स्वायत्तशासी)

सारांश

वर्ष 1967 में पश्चिम बंगाल के एक छोटे से इलाके ‘नक्सलबाड़ी’ से भड़के किसानों और आदिवासियों के विद्रोह की चिंगारी केवल एक भू-भागीय राजनैतिक घटना नहीं थी, बल्कि उसने पूरे देश के बौद्धिक वर्ग, सामाजिक और सांस्कृतिक परिदृश्य को झकझोर कर रख दिया था। अंग्रेजी हुकूमत से वर्ष 1947 में स्वतंत्रता के बाद देश ने ‘समाजवाद’, जनतान्त्रिक मूल्यों और कल्याणकारी राज्य की जिस कल्पना की थी, वह तो दो दशकों में ही दम तोड़ने लगी थी। गरीबी, भ्रष्टाचार, दमनकारी नीतियों, जमींदारी शोषण, नौकरशाही का अमानवीय चेहरा और मोहभंग की इसी पृष्ठभूमि से नक्सलबाड़ी का सशस्त्र व तीव्र प्रतिरोध सामने आया। हिन्दी साहित्य में इस राजनैतिक उथल-पुथल ने ‘समकालीन कविता’ या ‘नक्सलबाड़ी कविता’ के एक नए युग का सूत्रपात किया। इस दौर की कविता रोमानी भावुकता, कलावादी सौंदर्यशास्त्र और कूट-संकेतों (मिथकों) से मुक्त होकर सीधे गाँव, सड़क, खेत-खलिहानों से होते हुए सीधे छद्म व्यवस्था के क्रूर चेहरों से टकराने लगी। हिन्दी कविता में इस ‘विद्रोही और व्यवस्था-विरोधी’ तेवर को जिन दो सबसे प्रखर और प्रतिनिधि कवियों ने स्वर दिया, वे हैं- **सुदामा पांडेय ‘धूमिल’ और गोरख पाण्डेय**। जब अंग्रेजी हुकूमत से देश को मुक्ति मिलने के बाद भारतीयों ने जिस प्रकार की आजादी के स्वप्न देखे थे, देश की दशा लगभग उसके विपरीत ही हो रही थी। इसके कारणों में तत्कालीन नेहरुवादी समाजवाद का ढाँचा, मिश्रित अर्थव्यवस्था की नीतियाँ तथा देशी शासकों, पूँजीपतियों और सामंतवादियों की शोषक नीतियाँ शामिल थीं। इन कारणों से देश की जनता में निर्धनता, भूमिहीनता और भुखमरी जैसी समस्याएँ उत्पन्न हुईं तथा व्यापक असंतोष फैल गया, जिसके समाधान में सरकार पूरी तरह अक्षम साबित हो गई।

मूल शब्द: जनवाद, क्रांति, आजादी, वर्ग-संघर्ष, मोहभंग, किसान, सर्वहारा, समकालीन कविता, सामंतवाद, नक्सलबाड़ी

हिन्दी साहित्य के ‘यंग ऐंग्री मैन’ के नाम से पुकारे जाने वाले धूमिल जहाँ एक तरफ मोहभंग की आक्रोशपूर्ण अभिव्यक्ति, मध्यमवर्गीय समाज के पाखंड का पर्दाफाश और जनतंत्र की विद्रूपताओं को अपनी अचूक काव्य-भाषा से भेदते दिखते हैं, वहीं दूसरी ओर गोरख पाण्डेय जन-गीतों, लोक-लयों और मार्क्सवादी-लेनिनवादी वैचारिक धरातल पर खड़े होकर सीधे बदलाव (क्रांति) का बिगुल फूँकते दिखते हैं। दोनों के काव्य में नक्सलबाड़ी की गूँज अलग-अलग रूपों, स्तरों और शिल्पों में सुनाई देती है, लेकिन दोनों का लक्ष्य एक ही है- शोषक व्यवस्था का अंत और शोषित वर्ग की मुक्ति।

*Corresponding Author Email: ddurgesh455@gmail.com
Published: 07 September 2026
DOI: https://doi.org/10.70558/SPIJSH.2026.v3.i9.45909
Copyright © 2026 The Author(s). This work is licensed under a Creative Commons Attribution 4.0 International License (CC BY 4.0).

नक्सलबाड़ी आन्दोलन की वैचारिक पृष्ठभूमि और साहित्यिक प्रभाव

यह आन्दोलन मूलतः भूमि सुधारों की विफलता, जमींदारों और बटाईदारों के अधिकार और सामंती उत्पीड़न के खिलाफ जन्मा एक उग्र वामपंथी आन्दोलन था। चारु मजूमदार, कानू सान्याल जैसे प्रमुख लोगों ने इस आन्दोलन का नेतृत्व कर भारतीय राज्य व्यवस्था और उसके दमनकारी अंगों (संसद, पुलिस, न्यायपालिका) को सीधी चुनौती दी।

इस आन्दोलन ने तमाम साहित्यकारों के सामने कुछ बुनियादी सवाल खड़े किए जो निम्न थे:

1. देश की आजादी के बाद का यह लोकतंत्र असल में किसके लिए है?
2. क्या देश की संसद और संविधान शोषितों को न्याय देने में सक्षम है?
3. किसी भी लेखक की प्रतिबद्धता किसके प्रति होनी चाहिए— कला के प्रति या शोषित-पीड़ित समाज के प्रति?

हिन्दी कविता में प्रगतिशील आन्दोलन की जो धार कुछ शिथिल या कमजोर पड़ रही थी, उसे नक्सलबाड़ी आन्दोलन ने एक तीव्र 'रेडिकल' आवेग प्रदान किया। कविता अब केवल सहानुभूति का माध्यम नहीं रही, बल्कि वह वर्ग-संघर्ष का हथियार बनने लगी। इसी ऐतिहासिक मोड़ पर धूमिल और गोरख पाण्डेय जैसे जनवादी विचारधारा के रचनाकारों का उदय हुआ, जिन्होंने हिन्दी कविता के पूरे सौन्दर्यशास्त्र को ही बदल कर रख दिया।

सुदामा पाण्डेय 'धूमिल' के काव्य में नक्सलबाड़ी: मोहभंग, आक्रोश और शासन की विद्रूपता

धूमिल (1936-1975) साठोत्तरी हिन्दी कविता संसार के सबसे दीप्तिमान नक्षत्र रहे हैं। उनके काव्य संकलन- 'संसद से सड़क तक', 'कल सुनना मुझे' और 'सुदामा पाण्डेय का प्रजातंत्र' ये तीन काव्य-संग्रह हिन्दी साहित्य की अमूल्य धरोहर हैं। धूमिल के काव्य में नक्सलबाड़ी सीधे तौर पर किसी राजनीतिक नारे के रूप में नहीं आता है, बल्कि वह उस 'मोहभंग' और 'व्यवस्था-विरोध' के रूप में आता है जो नक्सलबाड़ी की आत्मा थी।

1. छद्म जनतंत्र और व्यवस्था का पर्दाफाश

धूमिल ने उस लोकतान्त्रिक व्यवस्था पर सबसे तीखा प्रहार किया है जिसके छलावे को नक्सलबाड़ी ने उजागर किया। वे देखते हैं कि संसद में बैठे लोग आम जनता के दुःखों से पूरी तरह कट कर रहते दिखते हैं। दूसरे शब्दों में कहें तो उनकी संवेदना मर चुकी है। धूमिल अपनी कविता '**बीस साल बाद**' में लिखते हैं:

> "क्या आजादी सिर्फ तीन थके हुए रंगों का नाम है
>
> जिन्हें एक पहिया ढोता है
>
> या इसका कोई खास मतलब होता है?"[1]

धूमिल यह बात समझ चुके थे कि इस देश का लोकतंत्र/जनतंत्र वास्तव में 'पूंजीपतियों', 'बाहुबलियों' और 'अवसरवादी राजनैतिक दलालों' का एक साझा व्यवसाय बन चुका है। वे जनतंत्र को कड़े शब्दों में परिभाषित करते हुए अपनी प्रसिद्ध लंबी कविता **'पटकथा'** में कहते हैं:

> "दरअसल, अपने यहाँ जनतंत्र एक ऐसा तमाशा है
>
> जिसकी जान मदारी की भाषा है।"[2]

2. मध्यमवर्गीय समाज के पाखंड पर प्रहार

नक्सलबाड़ी आन्दोलन ने बुद्धिजीवियों और मध्यमवर्ग की मूक सहमति पर सवाल उठाए। धूमिल अपनी कविताओं में इस नपुंसक और कमजोर मध्यमवर्ग को सबसे ज्यादा कोसते नजर आते हैं, जो एक चाय की टपरी पर क्रांति की बड़ी-बड़ी बातें तो करता दिखता है, लेकिन सड़क पर उतरने से बेहद डरता है। धूमिल के 'मोचीराम', 'नक्सलबाड़ी' और 'पटकथा' जैसी कविताओं में उनका यह गुस्सा साफ तौर पर देखा जा सकता है। उनकी कविता **'नक्सलबाड़ी'** में इस आन्दोलन की पृष्ठभूमि और उसके प्रति मध्यमवर्ग के डर को सीधे तौर पर बयां किया गया है:

"क्या मैंने गलत कहा?

आखिरकार

इस खाली पेट के सिवा

तुम्हारे पास वह कौन-सी सुरक्षित

जगह है, जहाँ खड़े होकर

तुम अपने दाहिने हाथ की

साजिश के खिलाफ लड़ोगे।"[3]

3. देश की व्यवस्था पर भाषागत रूप में प्रतिरोध

धूमिल की भाषा में एक खास तरह का खुरदरापन, देहाती मुहावरा और हिंसक बिम्ब हैं, जो नक्सलबाड़ी दौर की हिंसा और दमन के बिल्कुल अनुकूल दिखते हैं। वे भाषा को 'चिकनी-चुपड़ी' नहीं रहने देते हैं, वे कहते हैं कि जब चारों तरफ अन्याय हो और सब के सब व्यवस्था के पक्ष में चले गए हैं, तब तो कविता को तटस्थ रहने का अधिकार नहीं है:

"और विपक्ष में

सिर्फ कविता है।

सिर्फ हज्जाम की खुली हुई 'किस्मत' में

एक उस्तुरा चमक रहा है।

सिर्फ भंगी का एक झाड़ू हिल रहा है

नागरिकता का हक हलाल करती हुई

गंदगी के खिलाफ़।"[4]

वहीं धूमिल अपनी कविता **'मुनासिब कार्रवाई'** में लिखते हैं कि;

"कविता भाषा में आदमी होने की तमीज है**"**[5]

लेकिन जब आदमी होने की तमीज को ही कुचल दिया जाए, तो वह भाषा 'हथियार' बन जाती है। तब धूमिल कहते हैं:

"एक सही कविता पहले एक सार्थक वक्तव्य होती है

और वक्तव्य से आगे बढ़कर वह एक कार्रवाई बन जाती है।"[6]

गोरख पाण्डेय के काव्य में नक्सलबाड़ी: वर्ग-संघर्ष, जन-गीत और साफ वैचारिक लड़ाई

गोरख पाण्डेय (1945-1989) का काव्य संसार धूमिल के काव्य संसार से इस माने में भिन्न है कि गोरख केवल व्यवस्था की विद्रूपता दिखाकर ही रुक नहीं जाते हैं, बल्कि वे उस विद्रूपता के विकल्प के रूप में सीधे जन-क्रान्ति का मार्ग सुझाते हैं। गोरख पाण्डेय नक्सलबाड़ी और कई जनचेतना-आधारित सामाजिक और सांस्कृतिक संगठनों की विचारधारा से सीधे तौर पर जुड़े हुए थे। उनकी तमाम काव्य-रचनाएँ, जैसे 'भोजपुरी कर गीत', 'जागते रहो', 'उनका डर' और 'स्वर्ग से विदाई' जैसी रचनाएँ क्रांति का साफ तौर पर शंखनाद करती हैं।

1. सीधे वर्ग-संघर्ष का आह्वान

गोरख पाण्डेय की कविताओं में शोषक वर्ग (जमींदार, पूंजीपति, पुलिस-प्रशासन, अवसरवादी नेता आदि) और शोषित वर्ग (दलित, पीड़ित, वंचित, किसान, मजदूर, सर्वहारा आदि) के बीच का फासला बिल्कुल साफ है। वे किसी संशय में नहीं जीते हैं। नक्सलबाड़ी आन्दोलन ने जिस सशस्त्र प्रतिरोध और वर्गीय चेतना को जगाया था, गोरख उसे अपने लोक-गीत **'गुहार'** में इस तरह बयां करते हैं:

"सुरू बा किसान के लड़इया, चल तुहूँ लड़े बदे भइया

कब तक सुतब, मूँदि के नयनवा

कब तक ढोवब सुख के सपनवा

फूटलि ललकि किरनिया, चल तुहूँ लड़े बदे भइया

सुरू बा किसान के लड़इया, चल तुहूँ लड़े बदे भइया "[7]

2. लोक-लयों और भोजपुरी जन-गीतों का प्रयोग

गोरख पाण्डेय की सबसे बड़ी ताकत यह थी कि उन्होंने मार्क्सवादी चेतना और नक्सलबाड़ी के संदेश को आम जनता तक पहुँचाने के लिए 'लोकगीत' की लयों को माध्यम के रूप में चुना। उन्होंने भोजपुरी में ऐसे कालजयी गीत लिखे जो आज भी हर जन-आन्दोलन की आवाज हैं। उनका प्रसिद्ध भोजपुरी गीत **'समाजवाद'**, जो लोगों में आशावाद का प्रसार करता है:

"समाजवाद बबुआ, धीरे-धीरे आई

समाजवाद उनके धीरे-धीरे आई

हाथी से आई, घोड़ा से आई

अँग्रेज़ी बाजा बजाई समाजवाद...

नोटवा से आई, वोटवा से आई

बिड़ला के घर में समाई, समाजवाद...

गांधी से आई, आँधी से आई।

टुटही मड़इयो उड़ाई, समाजवाद...

कांगरेस से आई, जनता से आई

झंडा के बदली हो जाई, समाजवाद...

डालर से आई, रूबल से आई

देसवा के बान्हे धराई, समाजवाद... "[8]

उनके कई अन्य अत्यंत लोकप्रिय क्रांति-गीतों ने पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार के ग्रामीण इलाकों में क्रांति की चेतना को घर-घर पहुँचाया है।

3. राज्य की दमनकारी सत्ता की चुनौती

नक्सलबाड़ी आन्दोलन को दबाने के लिए राज्य सत्ता ने जिस बर्बरता का सहारा लिया, गोरख ने उसे अपनी कविताओं में पूरी नग्नता के साथ दिखाया। उनकी प्रसिद्ध कविता **'उनका डर'** शासक वर्ग के उस भय को दिखाती है जो उन्हें जनता की एकजुटता से लगता है:

"वे डरते हैं

किस चीज से दरए हैं वे

तमाम धन-दौलत

गोल-बारूद पुलिस-फौज के बावजूद?

वे डरते हैं

कि एक दिन

निहत्थे और गरीब लोग

उनसे डरना बंद कर देंगे।"[9]

गोरख पाण्डेय की कविता 'जेल' और 'फाँसी' जैसी रचनाएँ यह साफ बताती हैं कि क्रांतिकारी मौत से नहीं डरते, क्योंकि नक्सलबाड़ी ने उन्हें लड़कर जीना-मरना सिखाया है।

दोनों कवियों की रचनाओं के तुलनात्मक बिन्दु निम्नवत हैं:

1. जहाँ धूमिल के वैचारिक दृष्टिकोण में मोहभंग, संदेह, व्यवस्था विरोध और तीव्र जनवादी आक्रोश दिखता है क्योंकि वे सीधे किसी पार्टी लाइन/संगठन से नहीं बंधे हैं; वहीं दूसरी तरफ गोरख पाण्डेय प्रतिबद्ध मार्क्सवादी-लेनिनवादी चेतना के साथ ही नक्सलबाड़ी और भाकपा से सीधे जुड़े दिखाई देते हैं।
2. जहाँ धूमिल का काव्य-रूप/शिल्प गद्यात्मक, लंबी कविताओं वाला, सूक्तिपरक और तीक्ष्ण कटाक्षयुक्त है; वहीं दूसरी तरफ गोरख पाण्डेय जन-गीतों और लोक-धुनों (कजरी, बिरहा, चैती) की लयों का प्रयोग करके अपनी वाणी को प्रभावी बनाते दिखते हैं।
3. जहाँ धूमिल ने सीधे मध्यमवर्ग/बुद्धिजीवियों के पाखंड को चुनौती देते हुए किसान-मजदूरों की लाचारी दिखाते हैं, वहीं गोरख सीधे तौर पर किसान, मजदूर और सर्वहारा वर्ग को क्रांति के लिए प्रेरित करते दिखाई देते हैं।
4. धूमिल के स्वर में आत्म-निरीक्षण, हताशा और खीझ से उत्पन्न भयंकर गुस्सा दिखाई पड़ता है तो वहीं गोरख के स्वर में आशावाद, भविष्य के प्रति दृढ़ विश्वास और वर्ग-चेतना का उल्लास साफ देखा जा सकता है।

5. धूमिल जहाँ व्यवस्था की विद्रूपता का **एक्स-रे** करते दिखते हैं और पाठक को 'अपराधी' की तरह कटघरे में खड़ा कर देते हैं, वहीं गोरख पाण्डेय शोषित को उस क्रूर व्यवस्था से लड़ने के लिए हथियार थमाते हैं और उधर मैदान में उतरने के लिए प्रेरित करते हैं।
6. धूमिल की कविता 'संसद से सड़क तक' की यात्रा है, तो गोरख की कविता 'खेत-खलिहान से क्रांति के लिए रण करने' तक की यात्रा समझ आती है।

नक्सलबाड़ी की गूँज: दोनों कवियों के प्रमुख कविताओं के आलोक में संक्षिप्त विवेचना

धूमिल की कविताओं का विश्लेषण-

धूमिल की कविता 'नक्सलबाड़ी' केवल एक नाम नहीं है, बल्कि वह एक 'लक्षण' की तरह है, जो स्वतंत्र भारत के लोकतंत्र, संसद और न्याय व्यवस्था के खोखलेपन के प्रति देश की जनता में उपजे गहरे 'मोहभंग' और 'आक्रोश' के रूप में सुनाई देती है। 'नक्सलबाड़ी' नामक कविता उनके प्रसिद्ध प्रथम काव्य-संग्रह 'संसद से सड़क तक', जो 1972 में प्रकाशित हुआ, में संकलित है और उन्होंने इस कविता के माध्यम से यह प्रतिपादित किया है कि यह आन्दोलन कोई अचानक उपजा उन्माद नहीं है, बल्कि यह सभी भारतीयों के मन में उस छद्म जनतंत्र के खिलाफ आम आदमी के अनिवार्य विद्रोह का सबसे प्रखर प्रतीक है। धूमिल अपनी इस **'नक्सलबाड़ी'** कविता में लिखते हैं:

"जंगल से जिरह करने के बाद
उसके साथियों ने उसे समझाया कि भूख
का इलाज नींद के पास है!
मगर इस बात से वह सहमत नहीं था
विरोध के लिए सही शब्द टटोलते हुए
उसने पाया कि वह अपनी जुबान
सहुवाइन की जाँघ पर भूल आया है;
फिर भी हकलाते हुए उसने कहा-
'मुझे मेरी कविताओं के लिए
दूसरे प्रजा तंत्र की तलाश है"[10]

धूमिल एक जगह यह भी सीधे तौर पर कहते हैं कि संविधान और जनतंत्र के छद्म रूप से ठगा महसूस कर रहे शोषित वर्ग के गुस्से को कुछ इस तरह आमने-सामने खड़ा कर अपनी लंबी कविता **'पटकथा'** में लिखते हैं:

"यहाँ जनता एक गाड़ी है
एक ही संविधान के नीचे
भूख से रिरियाती हुई फैली हथेली का नाम
'गया' है
और भूख में
तनी हुई मुट्ठी का नाम नक्सलबाड़ी है।"[11]

यहाँ धूमिल यह स्पष्ट करते हैं कि 'नक्सलबाड़ी' कोई 'लॉ एण्ड ऑर्डर' की समस्या या कुछ भटके हुए युवाओं का उत्पाद नहीं है, बल्कि यह स्वतंत्र भारत के उस कड़वे सच का आईना है जहाँ फर्जी कागजी विकास की चकाचौंध के सामने करोड़ों देश के नागरिक भूख से तड़प रहे हैं। नक्सलबाड़ी कविता यह स्थापित करती है कि जब-जब लोकतंत्र केवल मुट्ठी भर लोगों की तिजोरियाँ भरेगा, तब-तब देश के किसी न किसी कोने से 'नक्सलबाड़ी' जैसी चिंगारियाँ उत्पन्न होंगी। यह उस सड़ी-गली व्यवस्था का अनिवार्य परिणाम है। साथ ही, जब तक समाज में विषमता रहेगी, तब तक नक्सलबाड़ी बार-बार पैदा होता रहेगा।

गोरख पाण्डेय की कविताओं में नक्सलबाड़ी आन्दोलन की झलक और सामंतवाद पर चोट

1960 के दशक के उत्तरार्ध में पश्चिम बंगाल से उठे इस नक्सलबाड़ी किसान आन्दोलन ने भारतीय राजनीति और साहित्य के परिदृश्य को पूरी तरह बदल दिया था। गोरख पाण्डेय इस आन्दोलन की क्रांतिकारी चेतना और वामपंथी विचारधारा से गहरे प्रभावित थे। उनकी कविता का केंद्र श्रमिक, शोषित, भूमिहीन किसान, दलित और हाशिये पर खड़ा शोषित वर्ग रहा है। नक्सलबाड़ी आन्दोलन बुनियादी तौर पर जल, जंगल और जमीन पर किसानों, मजदूरों के हक पर आधारित है। गोरख पाण्डेय केवल करुणा या सहानुभूति के कवि न होकर वे शोषितों के भीतर छिपे आक्रोश को संगठित प्रतिरोध में बदलते हैं। उनकी प्रसिद्ध कविता **'तुम्हें डर है'** की पंक्तियों से अपना इरादा साफ करते हैं:

"हजार साल पुराना है उनका गुस्सा

हजार साल पुरानी है उनकी नफरत

मै तो सिर्फ उनके बिखरे हुए शब्दों को

लय और तुक के साथ लौटा रहा हूँ

मगर तुम्हें डर है कि आग भड़का रहा हूँ"[12]

सामंतवादी व्यवस्था हमेशा भय और आतंक के बल पर टिकी रहती है। नक्सलबाड़ी आन्दोलन ने सदियों से डरे हुए किसानों के मन से उस सामंती डर को काफी हद तक बाहर किया। गोरख पाण्डेय अपनी कविता **'उनका डर'** में भी यही बात लिखते हैं कि शासक वर्ग और सामंती ताकतों को हथियारों से डर नहीं लगता, बल्कि उन्हें तब डर लगता है जब कोई निहत्था गरीब-मजलूम उनके सामने आँखों से आँखें मिलाकर तन कर खड़ा हो जाता है। नक्सलबाड़ी आन्दोलन का एक मुख्य उद्देश्य जनता को भाग्यवाद और धार्मिक अंधविश्वास से मुक्त कर वर्ग-चेतना से लैस करना था। गोरख की तमाम कविताएँ इस उद्देश्य को पूरी तरह चरितार्थ करती हैं।[13]

निष्कर्ष

'धूमिल' और गोरख पाण्डेय के काव्य में नक्सलबाड़ी की गूँज महज एक दौर की राजनीति का दस्तावेजीकरण नहीं है, बल्कि हिन्दी कविता का वह युगांतकारी मोड़ है, जिसने कविता को 'ड्रॉइंग रूम' से निकालकर 'श्रमजीवियों' के बीच स्थापित कर दिया। धूमिल ने हिन्दी कविता को वह कड़ा तेवर और भाषा दी जिससे सत्ता आज भी डरती है। धूमिल की असमयिक मृत्यु 1975 में मस्तिष्क ट्यूमर के कारण हुई। इसके बाद भी तब धूमिल ने जो लकीर खींची, वह आज भी अचूक ही है। दूसरी तरफ, गोरख पाण्डेय की कविताओं में केवल शब्दों का जाल नहीं है, बल्कि वे सामंतवाद के खिलाफ एक खुला युद्धघोष करते दिखते हैं। उन्होंने कविता को गीतों के माध्यम से लोक-मानस का हिस्सा बना दिया। 1989 में उनके दुखद अवसान (जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय के छात्रावास में आत्महत्या) के बाद भी उनके लिखे गीत आज भी देश के हर कोने में होने वाले जन-आंदोलनों, किसानों के प्रदर्शनों और छात्र आन्दोलनों में गाए जाते हैं।[14]

अब संक्षेप में कहें तो धूमिल और गोरख पाण्डेय के काव्य में गूँजने वाली नक्सलबाड़ी आन्दोलन की आवाज वास्तव में "मनुष्य की गरिमा, रोटी की स्वतंत्रता और एक समतामूलक समाज" की कभी न मरने वाली आवाज है। जब तक समाज में अन्याय रहेगा, इन दोनों जनवादी कवियों की कविताएँ सत्ता के गलियारों में नक्सलबाड़ी आन्दोलन की गूँज की तरह गूँजती रहेंगी।

संदर्भ:

1. पाण्डेय, डॉ० रत्नशंकर। धूमिल एक ठेठ कवि। हिन्दी युग्म प्रकाशन (2022) पृष्ठ संख्या 16
2. वही, पृष्ठ संख्या 155
3. वही, पृष्ठ संख्या 78-79
4. वही, पृष्ठ संख्या 80
5. धूमिल, सुदामा पांडेय। संसद से सड़क तक। राजकमल प्रकाशन (2013) पृष्ठ संख्या
6. कविता पर एक वक्तव्य, नया प्रतीक। अंक 78, पृष्ठ संख्या 05
7. वर्मा, जीतेंद्र। गोरख पाण्डेय के भोजपुरी गीत। राष्ट्रीय पुस्तक न्यास (2009) पृष्ठ संख्या 12
8. पाण्डेय, गोरख। समय का पहिया। संवाद प्रकाशन (2004) पृष्ठ संख्या 101
9. पाण्डेय, गोरख। समय का पहिया। संवाद प्रकाशन (2004) पृष्ठ संख्या 58
10. पाण्डेय, डॉ० रत्नशंकर। धूमिल एक ठेठ कवि। हिन्दी युग्म प्रकाशन (2022) पृष्ठ संख्या 78
11. पाण्डेय, डॉ० रत्नशंकर। धूमिल एक ठेठ कवि। हिन्दी युग्म प्रकाशन (2022) पृष्ठ संख्या 175
12. पाण्डेय, गोरख। समय का पहिया। संवाद प्रकाशन (2004) पृष्ठ संख्या 22
13. Tripathi D. G. M. (2023). स्वातंत्रयोत्तर काल में व्यंग्यात्मक हिन्दी कविता के पुरोधा नागार्जुन . ,शोध दिशा61 ,255-262 .https://doi.org/10.5281/zenodo.18745376
14. Tripathi D. G. M. (2023). स्वातंत्रयोत्तर समकालीन हिन्दी कविता : कथागत मूल्यांकन https://doi.org/10.5281/zenodo.18746351